

## मीराबाई का समाज

आशीष मिश्र

मीराबाई के जीवन और कविताई पर बहुत लिखा गया है, लेकिन मीरा के समाज पर साहित्य में कोई प्रामाणिक काम नहीं हुआ है। ऐसे में अगर आप बहस के लिए कोई किताब खोज रहे हों तो माधव हाड़ा की किताब पढ़नी चाहिए—मीरा का जीवन और समाज। मीरा के समय-समाज का ज्ञान इसलिए जरूरी है, क्योंकि अब मीरा संत-भक्त, कवयित्री या सामंती समाज में प्रतिरोध का प्रतीक भर नहीं हैं। आज की मीरा आधुनिक संस्कृति उद्योग का लोकप्रिय उत्पाद है। इस संस्कृति उद्योग के लोकप्रिय साहित्य, चित्रकथा, कार्टून, फिल्मों आदि की पूरी अंतर्वस्तु मध्यवर्गी उपभोक्ताओं की कामनाओं का ही प्रत्यावर्तन करती है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक राष्ट्रवाद के साथ मोटा रहे मध्यवर्ग के आत्मगौरव में पुनरुत्थान का भाव भी मिला हुआ था। अतः इस समय का संस्कृति उद्योग मीरा को आदर्श हिन्दू पत्नी और संत-भक्त की छवि में गढ़ता है, लेकिन आज की वैश्विक मंडी में पले-बढ़े मध्यवर्ग का बोध पिछली शताब्दी के पूर्वार्द्ध वाली नहीं है। इसे आदर्श भारतीय पत्नी के बजाय रूमानी और एक हद तक विद्रोही व स्वतंत्र स्त्री चाहिए। प्रेमदीवानी मीरा इसी कामना का उत्पाद है। संस्कृति उद्योग मर्द-कामना की संतुष्टि के लिए ऐसी उपभोग सामाग्री का निर्माण करता है। यह समझना कठिन नहीं है कि बंबइया फिल्मों और गीतों में मीरा सर्वाधिक आकर्षक विषय क्यों रही हैं।

राधा के बाद आदर्श प्रेमिका के रूप में मीरा की माँग सर्वाधिक है। प्रेम दिवानी मीरा की छवि राधा का ही किंचित नया पुनरुत्पादन है। राधा का रूपक थोड़ा पुराना और पौराणिक

---

पचरंग चोला पहर सखी री मीरा का जीवन और समाज, लेखक—माधव हाड़ा, प्रकाशक—वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ. सं. 166, मूल्य-रु. 395

था। मीरा का अपेक्षाकृत नया और शिक्षित मध्यवर्ग को संतुष्ट करने वाला—ऐतिहासिक है। इसके लिए मीरा के संदर्भ में नई-नई कथाओं की रचना की गई। कहने का तात्पर्य यह है कि अब जिसे हम मीरा समझते हैं, वह मध्यकालीन समाज की मीरा नहीं है। वह मध्यवर्गी मर्द की कामना का उत्पाद है। अतः मीरा की वास्तविकता तक पहुँचने के लिए इन छवियों को पार करके ही उसके समय के ऐतिहासिक विश्लेषण में उतरा जा सकता है। विश्लेषित इतिहास के संदर्भ में ही उसकी कविताओं का विश्लेषण हो सकता है। संस्कृति उद्योग उत्पादित छवियों के संदर्भ में उसके व्यक्तित्व और कवित्व का मूल्यांकन गलत होगा।

मीरा के समय-समाज में उतरने का कोई और रास्ता नहीं है। हमें इन्हीं सांस्कृतिक छवियों से होकर पीछे जाना होगा। और जब आप ऐसा करेंगे तो आज से सौ वर्ष पीछे आपको ज्ञान का एक औपनिवेशिक भ्रंश मिलेगा। दो सौ वर्षों के इस औपनिवेशिक भ्रंश के दौरान यूरोपीय कामनाओं की कोंख में भारतीय इतिहास और भारतीयों के आत्मबोध की रचना हुई। हमारे इतिहास का कोई भी दौर इस भ्रंश को 'बाइपास' करके नहीं समझा जा सकता। अतः किसी समय-समाज की निर्भ्रांत समझ के लिए यहाँ रुकना ही होता है। इसीलिए आप देखेंगे कि माधव हाड़ा बार-बार इस औपनिवेशिक भ्रंश पर लौटते हैं। किसी भी विषय पर बात करते हुए इस औपनिवेशिक मीमांसा से टकराते हैं। वे कहते हैं कि 'उपनिवेशकालीन इतिहासकारों और प्राच्यवादियों का नजरिया यूरोपीय हितों के अनुसार था। वे भारतीय सामाजिक गतिशीलता और द्वंद्व की अनदेखी कर उसके गैर भौतिक पहलुओं—धार्मिक, अध्यात्मिक, रूमानी, रहस्यवादी आदि पर जोर देते थे।' वे रोजमर्रा के रीति-रिवाज, चाल-चलन के बजाय सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखे उन शास्त्रों के आधार पर अध्ययन करते थे, जिनका व्यावहारिक जिंदगी में बहुत मतलब ही नहीं रह गया था। इस संदर्भ में माधव हाड़ा का यह विश्लेषण निर्भ्रांत लगता है कि पुनरुत्थानवादी ताकतों के साथ अपेक्षाकृत नये विमर्शवादियों ने भी दृष्टि और तथ्य सब इसी औपनिवेशिक ज्ञान मीमांसा से लिया। अतएव वे दोनों ही के विचारों की समीक्षा करते हुए इस औपनिवेशिक मीमांसा की कारगुजारियों तक लौटते हैं। अगर कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह पुस्तक मीरा के समय-समाज को औपनिवेशिक ज्ञान मीमांसा से विमुक्त करने की कोशिश है।

माधव हाड़ा कहते हैं कि मीरा एक दमदार सामंत स्त्री थीं। यह कथन मीरा की प्रेमदीवानी और भगवाधारी बैरागन वाली लोकप्रिय रूमानी छवि को तोड़ देता है। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध करने की कोशिश की है कि जब मीरा तीर्थयात्रा पर जाती थीं तब हाथी, घोड़े, रथ, मियाना आदि वाहनों पर शतशः वीर कर्मचारी, क्षत्रिय, सेवक, दास-दासी आदि मनुष्यों के सेना के साथ चलती थीं और मेड़ता नरेश की राजकुमारी तथा चित्तौड़ भूपाल के ज्येष्ठ पुत्रवधू के अनुरूप ही वैभव से रहती थीं। संस्कृति उद्योग द्वारा उत्पादित भगवा पहने इकतारा बजाकर संत और सामान्य जन के बीच उन्माद में नाचती मीरा की छवि का प्रत्याख्यान उल्लेखनीय बौद्धिक साहस की बात है। इसी तरह यह भी एक आम धारणा है कि मीरा का समय-समाज ठंडा और ठहरा हुआ था। मीरा को रहस्यवादी संत-भक्त और कवयित्री मानने वाले

इतिहासकार, समालोचक और नये स्त्रीविमर्शकार, इस संबंध में कमोबेश सभी एकमत हैं। लेकिन माधव हाड़ा इससे सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि यह औपनिवेशिक दृष्टि का परिणाम है। उनके अनुसार 'मीरा के समय-समाज के संबंध में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय समाज के संबंध आरंभिक उपनिवेशकालीन इतिहासकारों और प्राच्यविदों ने यह धारणा भारत में यूरोपीय मौजूदगी को मान्य और जरूरी ठहराने के लिए बनाई थी।' माधव हाड़ा इस दृष्टि का प्रत्याख्यान करते हैं। वे कहते हैं कि 'यह सही है कि अन्य प्राचीन और मध्यकालीन समाजों की तरह स्त्रियों की हैसियत यहाँ भी पुरुषों के बराबर नहीं थी, उनके साथ लैंगिक भेदभाव था और उनका शोषण और उत्पीड़न भी होता था, लेकिन यह पूरे समाज का सच नहीं था। इसको पूरे समाज का सच मानने वाले अपने निष्कर्ष यथार्थ से नहीं, निर्देशात्मक ब्राह्मण ग्रन्थों से निकालते हैं।' उनके अनुसार 'परंपरा का आग्रह इस समाज में था, लेकिन यह परंपरा ठहरी या जमी हुई नहीं थी। यह दैनंदिन व्यवहार की निरंतरता से प्राप्त होने वाली जीवंत संवेदना से पुनर्नवा होती रहती थी।' वे अपनी बात के संदर्भ में एक बड़ा प्रभावी तर्क देते हुए कहते हैं कि 'मीरा का समाज आदर्श समाज तो नहीं था, लेकिन यह पर्याप्त गतिशील और द्वन्द्वात्मक समाज था। तमाम अवरोधों के बाद भी इसमें कुछ हद तक मीरा होने की गुंजाइश तो थी ही।'

इसी तरह जाति सत्ता पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'मीराकालीन समाज में वर्ण और जातीय गतिशीलता थी। इस पर अपनी दलील देते हैं कि उपनिवेश काल से पहले तक जिस तरह से यहाँ निरंतर वर्ण मिश्रण हुआ, पेशे बदले और नयी जातियाँ बनीं, उससे लगता है कि वर्ण व्यवस्था का ब्राह्मण आदर्श यहाँ के दैनंदिन जीवन में पूरी तरह कभी प्रभावी नहीं रहा। वर्ण व्यवस्था के ब्राह्मण आदर्श की कुछ बातें यहाँ के समाज की स्मृति और संस्कार में अवश्य थीं, लेकिन यहाँ की रीति-भाँति चाल-चलगत का उनसे कोई मेल नहीं था। वे कहते हैं कि दरअसल वर्ण व्यवस्था के ब्राह्मण आदर्श को भारतीय समाज की शाश्वत सच्चाई मानने वालों ने अभी तक इस समाज की रीत-भाँति चाल-चलगत को ठीक से नहीं समझा। इस समाज का अध्ययन अभी तक उन ब्राह्मण साक्ष्यों के आधार पर हुआ है, जो दैनंदिन सामाजिक वास्तविकता के बजाय शास्त्रों में वर्णित ब्राह्मण आदर्शों से लिए गये हैं। उनके हिसाब से अनुलोम विवाह, विशृंखलता, संकट, संघर्ष, आपदा, राजाज्ञा आदि के कारण वर्ण मिश्रण भी होता रहा, पेशे भी बदलते रहे और नयी जातियाँ भी बनती रहीं। वे बहुत जोर देकर कहते हैं कि वर्ण और जातीय गतिशीलता इस समाज की ऐतिहासिक सच्चाई है और मीराकालीन समाज में पेशा बहुत हद तक वर्ण, जाति और रक्त के बजाय कर्म पर आधारित था।

माधव हाड़ा के अनुसार शास्त्रों में ब्राह्मण जातीय समूहों की हैसियत भले ही सर्वोच्चता की रही हो लेकिन उपनिवेश काल से पहले तक दैनंदिन सामाजिक जीवन में ऐसा नहीं था। अधिकांश ब्राह्मण जातीय समूह धर्मांध और कट्टर नहीं थे। उनकी हैसियत समाज में अलग और ऊँची नहीं थी और इसके लिए आग्रह भी नहीं करते थे। उनका कर्मकांडीय सामान्य आदर-सम्मान समाज में था लेकिन दूसरे द्विज जातीय समूहों के साथ उनके संबंध छोटे-बड़े के नहीं थे। लेखक के अनुसार स्मृति और पुराण आदि यहाँ के लोक में बाध्यकारी

कानून की तरह कभी मान्य नहीं रहे। और समाज में ब्राह्मण वर्चस्व और सर्वोच्चता का मिथक ब्राह्मणों ने अंग्रेजों के समर्थन से गढ़ा है। पुरुषोत्तम अग्रवाल की भाषा में जो ब्राह्मणों की सर्वोच्चता दिखाई पड़ती है वह एक 'ब्राह्मण फैंटेसी' है, जिसे कालांतर में यथार्थ मान लिया गया।

माधव हाड़ा अपनी बात बहुत सहज और तथ्यात्मक ढंग से रखने की कोशिश करते हैं, लेकिन अगर थोड़ा भी सजग पाठक होगा तो उसके जेहन में एक अति सामान्य-सा प्रश्न जरूर उठेगा कि जब वह समाज जातीय और लैंगिक स्तर पर इतना प्रवहशील था तो फिर मीरा और कबीर जैसे कवियों की कविताओं का सामाजिक सार क्या था? अगर इतना ही उदारवादी भारत था तो पूरे भक्ति आंदोलन में मौजूद जाति, पाखण्ड और दमन के विरोध का क्या मतलब है? माधव हाड़ा इसका जवाब नहीं देते लेकिन मेरी समझ में उनके पास इसका दो जवाब बचता था—या तो मीरा, कबीर, रैदास आदि कवियों की जातीय दंभ-विरोधी उक्तियों का कोई अतींद्रिय अर्थ होगा या फिर सब झूठ होगा! माधव हाड़ा बहुत 'प्रेग्मेटिक' ढंग से इस खड्ड को भरने की कोशिश करते हैं, लेकिन खड्ड भरने के बजाय पूरी पुस्तक वैचारिक अंतर्विरोधों से भर जाती है। वे एक तरफ तो यह कहते हैं कि मीरा का समाज जातीय और लैंगिक दृष्टि से बहुत उदारवादी था, लेकिन जैसे ही उनकी कविता पर आते हैं तो शीर्षासन करने लगते हैं। पुस्तक के पूर्वार्द्ध में वे सारी जिम्मेदारी औपनिवेशिक विमर्श पर डालते हैं और एक उदारवादी समाज के लिए तथ्य जुटाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते, लेकिन जैसे ही कविता पर आते हैं तो कहते हैं कि 'मीरा संत-भक्त से पहले एक स्त्री हैं, जो अन्याय और दमन के प्रतिरोध में खड़ी है।' उसी पृष्ठ पर फिर लिखते हैं कि 'पारंपरिक अर्थ में संत-भक्त नहीं थी, उसने राजसत्ता और पितृसत्ता के विरुद्ध अपने विद्रोह को भक्ति के आवरण में व्यक्त किया।' माधव हाड़ा साहब ने क्या कमाल किया है! ढोल पीछे से अपना पोल खुद ही उघाड़े जा रहा है। कोई पूछे कि जब कोई दमन और शोषण ही नहीं था फिर किस अन्याय का प्रतिरोध और किस राजसत्ता और पितृसत्ता के खिलाफ विद्रोह और कैसा आवरण! यह आवरण वाली बात और मजेदार है। यह पूरे हिन्दी के साहित्यिक समाज की दिक्कत है। यहाँ सब कुछ आवरण में होता है। कभी विद्रोह भक्ति का आवरण ले लेती है। कभी प्रेम का। कभी रहस्य का। इसे आलोचना का आवरणवाद कह देना चाहिए। दरअसल आलोचक यह मानकर चलते हैं कि भक्ति में कोई प्रगतिशील चेतना नहीं हो सकती। उन्हें यह समझा पाना कठिन है कि संस्कृति के हर अनुषंग में सत्ता मौजूद होती है और वहीं प्रति-सत्ता भी। मिशेल फूको ने अपनी जिंदगी लगा दी यही समझाने में।

माधव हाड़ा एक जगह लिखते हैं कि 'मीरा का प्रतिरोध 'असाधारण' और हाशिये का प्रतिरोध नहीं है।' ठीक अगले पृष्ठ पर लिखते हैं कि 'मीरा की कविता अलग और 'असाधारण' है। यह सामंती व्यवस्था के धर्म, दर्शन और लोक द्वारा मान्य स्वार्थपूर्ण हित-संबंध सीधे चुनौती देती हैं।' फिर चार पंक्ति बाद लिखते हैं 'मीरा की कविता में व्यवस्था के प्रति असंतोष, नाराजगी और विद्रोह का जो उग्र और मुखर स्वर मिलता है वो उसको उसके समकालीन संत-भक्तों से अलग सिद्ध करता है।' पुस्तक का लेखक इस बात का जवाब नहीं

देता कि यह अकारण ही असंतोष, नाराजगी, असाधारणता क्यों कर है!

इस पुस्तक में माधव हाड़ा ने मीरा की कविता को स्त्री भाषा के नये नुक्ते से देखा है। इसकी अभ्यर्थना होनी चाहिए। लेकिन उनका लैंगिक आग्रह उन्हें मुक्त ढंग से इस दिशा में बढ़ने नहीं देता। वे मीरा की भाषा के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण बिन्दु से अपनी बात शुरू करते हैं—“इस भाषा में उसके स्त्री होने का दैन्य, असहायता, शिकायतें, उलाहने, ईर्ष्या, सुख-दुख, द्वंद्व और चिंता सब आते हैं। उसका आग्रह और निवेदन आद्यंत ‘स्त्रियोचित’ है। वह लगभग हर दूसरे-तीसरे पद में यह जरूर कहती है—अरज करूँ अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी। उसकी ‘शिकायतें स्त्रियोचित ईर्ष्यामय’ हैं।” एक बार ठहरकर सोचिए, जब आग्रह, निवेदन, ईर्ष्यामय शिकायत सब स्त्रियोचित है तो फिर प्रतिरोध, विद्रोह और मुखरता सब बेमतलब नहीं हो जाएगा? ऐसा नहीं है कि माधव हाड़ा इसे बहुत सोच-विचारकर कह रहे हैं, बौद्धिक आदमी ऊपरी स्तर पर बहुत सजग हो जाता है, लेकिन अवचेतन पर तो वश है नहीं, वहाँ से बहुत कुछ अनचाहा भी टपक पड़ता है और बौद्धिक व्यक्तित्व की फाँक का प्रमाण बन जाता है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि मर्द लोग आज भी स्त्रियोचित मूल्यों को रचने में सजग हैं!

जैसा कि मैंने शुरुआत में कहा था कि यह पुस्तक बहस करने लायक है। हिन्दी में सामान्यतः ऐसी पुस्तकें कम प्रकाशित होती हैं जिनसे बहस की जा सके, जो आपको बौद्धिक रूप से उत्तेजित करें। किसी पुस्तक से सहमति-असहमति उतनी बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है बौद्धिक उत्तेजना और बहस को जन्म देने की क्षमता। आशा है कि इसे पढ़ रहे पाठक पुस्तक तक जरूर जाएँगे। वही इतना लिखने की सार्थकता होगी।

